अनुबोधन, खण्ड 1, अंक 4, दिसम्बर 2025, पृष्ठ 83–92
ISSN: 3049-4184 (प्रिन्ट), 3108-1185 (ऑनलाइन)
प्रकाशित: 31 दिसम्बर 2025
जर्नल वेबसाइट: https://anubodhan.org
DOI: 10.65885/anubodhan.v1n4.2025.033

भारतीय दर्शन का उद्गम

डॉ0 ऋषिका वर्मा*

सारांशिका

भारतीय दर्शन का उद्गम अत्यंत प्राचीन, समृद्ध और बहुआयामी है। इसका विकास मानव जीवन के मूल प्रश्नों यथा जीवन, जगत्, आत्मा, ईश्वर और मोक्ष के चिंतन से हुआ है। भारतीय दर्शन केवल बौद्धिक विचारधारा नहीं है बल्कि यह जीवन जीने की एक समग्र पद्धति भी है। इसकाा आरंभ वैदिक काल से माना जाता है, जहाँ मानव ने प्रकृति, देवताओं और आत्मिक सत्य को समझने का प्रयास किया। भारतीय दर्शन का मूल स्त्रोत वेद हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में दार्शनिक चिंतन के प्रारंभिक बीज मिलते हैं। प्रारंभ में वेदों में कर्मकांड और देवपूजा का प्रधान स्थान था, किन्तु धीरे–धीरे चिंतन का स्तर गहराता गया। इसी गहन चिंतन से उपनिषदों की रचना हुई, जिन्हें भारतीय दर्शन का आधार स्तंभ कहा जाता है। उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा, माया और मोक्ष जैसे गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' और तत्त्वमसि जैसे महावाक्य आत्मा और ब्रह्म की एकता को प्रतिपादित करते हैं।

वैदिक दर्शन के साथ–साथ श्रमण परम्परा से भी भारतीय दर्शन का विकास हुआ। इसी परंपरा से बौद्ध और जैन दर्शन का उद्भव हुआ। भगवान बुद्ध ने दुःख तृष्णा और निर्वाण की अवधारणा प्रस्तुत की, जबकि जैन दर्शन ने अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह पर विशेष बल दिया। इन दर्शनों ने वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए नैतिकता और आत्मशुद्धि को प्रमुख स्थान दिया। कालांतर में भारतीय दर्शन छह आस्तिक दर्शनों– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत के रूप में विकसित हुआ। इन दर्शनों ने तर्क, ज्ञान, साधना और मोक्ष के विभिन्न मार्ग प्रस्तुत किए। वेदान्त दर्शन विशेष रूप से अद्वैत दर्शन, विशिष्टाद्वैत और द्वैत के माध्यम से व्यापक रूप में विकसित हुआ। इस प्रकार भारतीय दर्शन का उद्गम विविध

*सहायक आचार्य, दर्शन विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल, उत्तराखण्ड,
E-mail: rishika.verma75@gmail.com

परंपराओं, चिंतनधाराओं और जीवनानुभवों का परिणाम है। यह दर्शन मानव का सत्य की खोज, आत्मज्ञान और मोक्ष की ओर अग्रसर करता है तथा आज भी मानव जीवन को दिशा देने में सक्षम है।

बीज शब्दः *भारतीय दर्शन, ज्ञान, मोक्ष, अध्यात्मवाद, तत्त्वमीमांसा, दुःख एवं ज्ञान*

प्रस्तावना

काल का चक्र तीव्र गति से घूम रहा है, जीवन क्षणभंगुर है और सबकुछ परिवर्तन के अधीन है। कोई भी वस्तु सत् नहीं है, सब कुछ प्रवाह रुप है। ऊपर की ओर उठने का संघर्ष, यथार्थसत्ता की खोज, सत्य को जानने की चेष्टा इन सबका आशय यह है कि यह प्रवाहरुप धारा ही सबकुछ नहीं है। तर्कशास्त्र, विश्वविज्ञान और नीतिशास्त्र सम्बन्धी सभी हेतु इस विषय की ओर निर्देश करते हैं कि सान्त जगत् से कहीं अधिक महान् कोई न कोई सत्ता अवश्य है। सान्त जगत् की सीमाओं से बचकर भागने का प्रयत्न उस चेतना की ओर संकेत करता है कि यह सान्त जगत् अपने आपमें यथार्थ नहीं है। विचार करने पर जिस विषय की आवश्यकता अनुभव होती है वह यह है कि हम एक निरपेक्ष यथार्थसत्ता के अस्तित्व को मानने के लिए विवश है। वेदों में जो धार्मिक अनुभव अंकित है वे हमें कम से कम इतना तो निश्चय के साथ बताते है कि ऐसी एक यथार्थसत्ता है जो अनादि और अनन्त है।[1]

आदि सृष्टि में सर्वप्रथम जब मानव ने चक्षु उन्मीलन किया, उसने अपने चारों ओर विविध सृष्टि का विस्तार अगड़ाइयाँ लेता पाया। प्रकृति–नटी अपनी भूमिका को बड़ी साजधाज के साथ प्रारम्भ कर चुकी थी, ऊपर अनन्त नक्षत्र राशि का वितान, सूर्य और चन्द्र का व्यवस्थित आवागमन, उनके उदय तथा अस्त की उद्भुत छटा से घिरी हुई रंग–बिरंगी संध्याएँ, भूतल पर चारों ओर बिछी हुई हरिततृणराशि, विविध तरू–लताओं से परिपूर्ण वनराशि, स्वच्छ बहती हुई मुक्ताभ जलधारा, इन सभी प्रकृति–नर्तकी के संभारों ने मानव–मस्तिष्क को चौंधिया दिया। तब एक अज्ञात प्रेरणा उसके मस्तिष्क में जाग्रत हुई, वह उद्बुद्ध हो गया, अपने चारों ओर अनन्त आकाश में फैली हुई प्रकृति–विभूतियों की वास्तविकता को जानने के लिए आकृष्ट हुआ। उस अनादिकाल से जाग्रत वह ज्ञानतृष्णा का आकर्षण आज भी मानव–मस्तिष्क को मथित कर रहा है और कदाचित् अनन्त काल तक यही गति बनी रहने की संभावना है।

इस ज्ञान–पिपासा की पूर्ति के लिए आज तक जिन महान आत्माओं ने अनुकरणीय व प्रसंशनीय प्रयास किये है; उनमें महर्षि कपिल का नाम मूर्द्धन्य व्यक्तियों की श्रेणी में लिया जा सकता है। अध्यात्म और अधिभूत के सम्बन्ध में जो विवेचन इस क्रान्तदर्शी ऋषि ने आदिकाल में प्रस्तुत किया है। आज भी उसका उत्तर वह स्वयं है। विविध साधनसामग्री–सज्जित आधुनिक अधिभौतिक विज्ञान आज के मानव को जिस सीमा पर लाकर खड़ा कर देता है, अन्तिम कोर तक उसकी तुलना में कपिल विचारधारा को उपस्थित करने के लिए किसी संकोच का अनुभव नहीं होता, उसके भी आगे अधिभूत के साथ अध्यात्म का समन्वय कापिलदर्शन की अपनी विशेषता है।[2]

आधुनिक विज्ञान प्राकृतिक तत्त्वों के विश्लेषण तक सीमित है और वह विश्व–समस्याओं की समस्त मूल भावनाओं को इतने में पूर्ण देखना चाहता है। संसार में अनुभूयमान सजीव और निर्जीव की परिभाषाओं को वह इसी सीमा में समाप्त कर लेता है। वस्तुतः अध्यात्म जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करने का आज तक उसने कोई प्रयत्न नहीं किया। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि उसने अधिभूत के साथ सम्पर्क बनाये रखने में अध्यात्म की उपेक्षा कभी नहीं की। आदिदार्शनिक कपिल ने प्रकृति में चेतन की प्रेरणा के बिना स्वतन्त्र रूप से किसी प्रकार की प्रवृत्ति का होना नहीं माना। इस प्रकार प्राकृतिक जगत् में जितने रासायनिक मिश्रण अनुकूल तापमान–वायुचाप आदि के प्रभाव से बन गये बताये जाते है, उन सब के पीछे एक पूर्ण नियामक शक्ति का विस्तृत हाथ है। सजीव सत्त्वमूल का प्रादुर्भाव भी ठीक उसी प्रकार होता है, उसे प्रकृति का आकस्मिक कार्य नहीं कहा जा सकता।

इस श्रेणी में शंकराचार्य का दर्शन आध्यात्मवाद का सर्वोच्च उदाहरण प्रस्तुत करता है। शांकरवेदान्त का मुख्य तत्त्व अद्वैतवाद है। प्राणिमात्र में जो भिन्न–भिन्न आत्मा दिखाई देती है, वह एक ही आत्मा है। यह एकात्मा ही शाश्वत सत्य है। अन्य सब मिथ्या है। प्राणियों से भिन्न जो पार्थिव जगत् है, वह भी असत्य है। आत्मा ही सत्यरुप है। सारे मानसिक और भौतिक–व्यापार क्षणिक है। अन्य सारे दर्शन जीवन में वस्तु सत्य को खोजते हुए पार्थिव जगत् में हमारे व्यवहार के हेतु प्रामाणिक तथ्य उपस्थित करते है। उनकी दृष्टि वस्तुवादी और संसार की व्यवहारिक मर्यादाओं से सीमित है। परन्तु वेदान्त इस दृश्यमान जगत् को कोई महत्त्व न देते हुए इस माया प्रतिबिंब मानकर उस मूल तत्त्व की ओर दृष्टिपात करता है जिससे यह सारा संसार प्रतिभासित हो

रहा है। वेदान्त उस अन्तिम सत्य को खोजता है जो इस अनेकविध सूक्ष्मतम पार्थिव व्यापार के मूल में अवस्थित है।[3] अतः सांख्यदर्शन एवं शांकरवेदान्त दोनों ही दार्शनिक सम्प्रदाय हमारी बुद्धि की और हमारे अन्र्तमन दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। जहाँ एक ओर सांख्यदर्शन इस जगत् की युक्तिपूर्ण व्याख्या करते हुए इस जगत् के दुःखों से मुक्ति का मार्ग बताता है वहीं शंकर एक पूर्ण आदर्श की बात करते है जो कि मनुष्य का अपना स्वरूप ही है जबकि वो इस रूप में जगत् को मिथ्या मानते है कि जगत् कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। फिर भी वो जगत् की सृष्टि की चर्चा तो करते हि है इससे स्पष्ट होता है कि जगत् की सत्ता है चाहे वह कुछ काल के लिए हो या सर्वदा चला आ रहा हैं। सांख्य और शांकरवेदान्त के अनेक सिद्धान्त है जिनका वर्णन एक स्थल पर कर पाना सम्भव नहीं है इसलिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को दोनों सम्प्रदाय के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के विवेचन तक ही सीमित कर दिया गया है। किसी भी दार्शननिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनेक पक्ष होते है, जैसे तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, आचारमीमांसा आदि तीनों की विषय अपने आप में महत्वपूर्ण और मानव जीवन के अत्यन्त आवश्यक पक्ष है, उसमें तत्त्वमीमांसा का अपना स्थान है क्योंकि मनुष्य की जिज्ञासा सबसे पहले यही होती है कि तत्त्व क्या है या हमारा स्वरूप क्या है। इसलिए सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि तत्त्वमीमांसा का क्या अभिप्राय है।

भारतीय तत्त्वमीमांसा का केन्द्रीय एवं आधारभूत अथवा मूल प्रश्न यह है कि तत्त्व अथवा जगत् का मूल कारण क्या है? इस प्रश्न के जवाब में भारतीय दर्शन में, कोई एक सर्वमान्य मत नहीं है बल्कि अनेक विरोधी मत हैं जिनमें भिन्न–भिन्न पदार्थों को 'तत्त्व अथवा जगत् के मूल कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'असत्' को जगत् का मूल कारण माना गया है।[4] अब, यदि असत् को जगत् का मूल कारण माना जाय तब प्रश्न उठता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अभाव से भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है? अर्थात् जगत् का मूल कारण 'असत्' नहीं, 'सत्' ही होना चाहिए। ऋग्वेद[5] के दीर्घतमा ऋषि ने जगत् के मूलकारण को 'सत्' माना है तथा सत् को 'एक', जैसाकि कहा गया है, 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'' अर्थात् सत् तो एक है किन्तु विद्वान उसका वर्णन कई प्रकार से करते हैं।

मुण्डक उपनिषद्[6] में तत्त्व सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों मतों का समन्वय मिलता है। उसमें तत्त्व को सत् एवं असत् रूप बतलाया गया

है तथा कहा गया है कि जितने भी चेष्टा करने वाले, श्वास लेने वाले और आँखों को खोलने–मूँदने वाले प्राणी हैं वे सब तत्त्व में प्रतिष्ठित है, जो सत् और असत् रूप है, अत्यन्त श्रेष्ठ तथा समस्त प्राणियों की बुद्धि से परे है। इसके विपरीत ऋग्वेद के नासदीय सूक्त[7] के ऋषि ने तत्त्व को न सत् कहा और न असत्। वहाँ कहा गया है कि इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व न सत् था और न असत्। उस समय न परमाणु थे और न ही आकाश था। न मृत्यु थी और न अमरत्व था। न ही रात्रि और दिन का कोई चक्र था।

ऊपर जो चर्चा की गई है उसमें जगत् का मूल तत्त्व या कारण सम्बन्धी सत् या असत् की अवधारणा एक अमूर्त विचार या कल्पना है, किन्तु कुछ अन्य दार्शनिकों ने जगत् के मूल तत्त्व को मूर्त रूप में तथा भाव रूप में माना अर्थात् भौतिक या प्राकृतिक शक्तियों के रूप में। बृहदारण्यक उपनिषद् में जल को जगत् का मूल तत्त्व मानकर उसी से समस्त विषयों की उत्पत्ति मानी है। बृहदारण्यक उपषिद् में कहीं असत् को तत्त्व माना गया है, कहीं आत्मा को और कहीं जल को। कुछ दार्शनिकों ने मूल कारण के रूप में प्रधान को स्वीकार किया, जो त्रिगुणात्मक है। उन दार्शनिकों के अनुसार प्रधान और पुरुष या आत्मा ये दो तत्त्व जगत् के परम कारण या तत्त्व हैं। इनमें प्रधान जड़ और पुरुष चेतन है। वस्तु जगत् के समस्त विषय प्रधान से उत्पन्न हुए है।[8]

जगत् के परम तत्त्व की खोज के विकास क्रम में मुण्डक उपनिषद्, जड़ और चेतन की कल्पना से, आगे बढ़ जाता है तथा इन दोनों की अर्थात् जड़ और चेतन की उत्पत्ति का कारण एक 'दिव्य पुरुष' को स्वीकार करता है। मुण्डक उपनिषद्[9] के अनुसार जगत् की उत्पत्ति के पहले एक दिव्य, अमूर्त, अज, अप्राण, शुभ्र तथा अक्षर पुरुष था। उसी से प्राण, मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा जगत् के अन्य विषयों की उत्पत्ति हुई। अर्थात् जड़ और चेतन सभी विषयों की उत्पत्ति पुरुष से हुई। इस मत के सदृश एक अन्य मत मिलता है, जिससे प्रजापति को जड़ और चेतन का कारण माना गया है। अर्थात् प्रजापति को जगत् परम तत्त्व माना है। मुण्डक उपनिषद् में भी ब्रह्म को परम तत्त्व मानकर उसी से जगत् की उत्पत्ति मानी है।[10] इस प्रकार भारतीय दर्शन में जगत् के मूल तत्त्व के सम्बन्ध में हमें भिन्न–भिन्न विचारधारा प्राप्त होते हैं। परन्तु प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि क्या इन सभी विचारधाराओं और हमारे अनुभव में कोई मेल है या नहीं। जब सांख्य यह कहता है कि मूल तत्त्व

प्रकृति एवं पुरूष है और प्रकृति से ही सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है और दूसरी तरफ जब शंकर कहते है कि ब्रह्म ही इस जगत् का मूल कारण है जोकि निर्गुण और निर्विकार है इन दोनों विचारधाराओं के बीच में भी अनेक विचार होंगे लेकिन अब प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि हमारी बुद्धि के लिए ग्राह्य क्या है और हम अपने विचार–मंथन द्वारा किस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

तत्त्वमीमांसा के दो प्रस्थान बिन्दु है। पहला प्रस्थान बिन्दु 'तत्' (वह) है। हमारे सामने जो वस्तुएँ है वही तत् हैं, हम उनको देखते हैं। किन्तु उनको देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते हैं। हम इनके स्वरुप को निश्चित करना चाहते है। ये हैं या नहीं? ये हैं तो फिर इनका मूल है कि नहीं? इनका अन्त है कि नहीं? इनके वर्तमान रुप कैसे हैं? यदि ये नहीं है तो क्यों नहीं है और फिर क्यों ये प्रतीयमान है? ये सब प्रश्न है। इन प्रश्नों का समाधान तत् की मीमांसा या तत्त्वमीमांसा है। शंकराचार्य के वेदान्त में इस तत्पदार्थ–शोधन या तत्पदार्थ की खोज कहते हैं।

फिर दूसरा प्रस्थान बिन्दु है– 'मैं हूँ' या 'मैं जानता हूँ'। पहला प्रस्थान बिन्दु वस्तु से प्रारम्भ होता है और दूसरा उसके ज्ञान से प्रारम्भ होता है। हमें जगत् का ज्ञान है। यह ज्ञान क्या है? इसका मूल क्या है? इसका अन्त क्या है? यह कैस होता है? कुछ ज्ञान भ्रामक क्यों है? ये और एस ही अन्य प्रश्न है। इन प्रश्नों का समाधानज्ञान–मीमांसा है। शंकर के वेदान्त में इसे त्वं–पदार्थ–शोधन या अध्यात्म–विद्या कहते हैं। यह भी तत्त्वमीमांसा है। क्योंकि इसके द्वारा ज्ञान और ज्ञानगत विषयों के अस्तित्व या तात्त्विकता की खोज होती है। इस तरह शंकराचार्य ने तत्त्व की खोज के लिए दो विधियाँ बतायी–तत्पदार्थ शोधन–विधि और त्वंपदार्थ शोधन–विधि। पश्चिमि दार्शनिकों में से अरस्तू, स्पिनोजा, शेलिंग आदि की विधि तत्पदार्थ शोधन–विधि है और देकार्त, काण्ट, लॉक, हेगल आदि की विधि त्वंपदार्थ–शोधन है।

हम जितनी वस्तुओं को देखते हैं वे सब सत्य नहीं है। अत हम किन वस्तुओ ंको सत्य कहें और किन को असत्य? आचार्य शंकर ने सत्यता की कसौटि बताते हुए कहा है–जिस रुप में कोई वस्तु निश्चित की गई है, अगर उसके रुप का व्यभिचार (परिवर्तन) नहीं होता है तो वह सत्य है और अगर उसके निश्चित किये गये रुप का परिवर्तन हो जाता है तो वह वस्तु अनृत (असत्य) है। इस कसौटि पर विकार असत्य है। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि जो वस्तु वर्तमान है क्या उसकी सत्ता पर भी सन्देह किया जा सकता है। जिस तरह एक सत्य यह है

कि मनुष्य जन्म लेता है वह एक विवेकशील, सामाजिक प्राणी है उसी प्रकार यह संसार हर समय विकास की ओर अग्रसर हो रहा है और परिवर्तनशीलता इसका एक मुख्य अंग है इस नकारा नहीं जा सकता।

हमारे ज्ञान का प्राथमिक स्त्रोत वेद है क्योंकि वेद को हम किसी कालविशेष में लिखित न मानकर अनादि तथा आपौरूषेय मानते हैं। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, जिसका प्रादुर्भाव ऋषियों द्वारा सृष्टि के आरम्भ में समाधि द्वारा होता है। वेदों की संख्या चार मानी गयी है– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन्हीं की पाठादि भेद से 1133 शाखाएँ कहलाती है। इन चारों वेदों के चार उपवेद भी माने गये हैं– ऋग्वेद का उपवेद अर्थवेद, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद एवं अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद। वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व है। इनमें अधिकतर मूल वेदों में बतलाये हुए धर्म अर्थात् यज्ञादि कर्मों तथा विधि–निषेध की विस्तृत व्याख्या और व्यवस्था है। ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद जो सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण है, वह है उपनिषद्, इनमें अधिकतर वेदों में बतलाये हुए आध्यात्मिक विचारों को समझाया गया है। इन्हीं को वेदान्त भी कहते हैं। क्योंकि ये वेद के अन्तिम भाग से सम्बन्धित है। उपनिषदों की संख्या लगभग 111 बतलायी जाती है। लेकिन इनमें मुख्य 11 है– ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।

वेद में बतलाये हुए ज्ञान की मीमांसा दर्शनशास्त्र में मुनियों द्वारा सूत्र रूप में की गयी है। दर्शन शब्द का अर्थ है 'दृश्यते अनेत इति दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जाए अर्थात् वस्तु का तात्त्विक स्वरूप जाना जाए वह दर्शन है। सभी दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषय है–

1. हेयः– दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है? जो हेय अर्थात् त्याज्य है?

2. हेयहेतुः– दुःख कहाँ से उत्पन्न होता है, इसका वास्तविक कारण क्या है? जो हेय अर्थात त्याज्य है, दुःख का वास्तविक हेतु है।

3. हानः– दुःख का नितान्त अभाव क्या है अर्थात् हान किस अवस्था का नाम है?

4. हानोपायः– हानोपाय अर्थात् नितान्त दुःखनिवृत्ति का साधन क्या है?

इन प्रश्नों पर विचार करते हुए तीन बातें और उपस्थित होती है– पहला, दुःख किसको होता है, जिसको होता है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? इस आत्मा या पुरूष से भिन्न कोई तत्त्व है जो दुःखरूप है और वह जड़तत्त्व है जिसे प्रकृति या माया कहते हैं। इसके यथार्थ स्वरूप को समझ लेने से पहला और दूसरा प्रश्न सुलझ जाता है। इन चारों रहस्यपूर्ण प्रश्नों को समझाने के लिए दर्शनशास्त्रों में छोटे–छोटे और सरल सूत्रों में युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। इन दर्शनशास्त्रों में षड्दर्शन मुख्य है– मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग। ये षड्दर्शन वेदों के उपांग कहलाते हैं। इन षड्दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहा जाता है क्योंकि ये पूर्णतः वेदों पर आधारित है। इन षड्दर्शनों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन भी प्रचलित है, जोकि उपर्युक्त चार प्रश्नों पर विचार करती है। लेकिन इन्हें नास्तिक दर्शन की कोटि में रखा जाता है। क्योंकि ये वेद एवं ईश्वर दोनों का निषेध करती है। उपनिषदों पर हमारे वेदान्तशास्त्र आधारित है। परन्तु इन उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों के सूक्ष्म अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि सांख्यमत इनके साथ–साथ चला है। सांख्यमत बहुत ही प्राचीन है, यद्यपि वर्तमान समय में पायी गयी पुस्तकों में प्राचीनतम पुस्तक एवं ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका बहुत अर्वाचीन है।

सांख्यमत को यद्यपि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने अवैदिक कहा है।[11] इसका प्रभाव वैदिक उपनिषदों में और परवर्ती वेदमूलक शास्त्रों में विशेषरुप से पाया जाता है। सांख्यमत और वेदमत में एक मौलिक भेद यह है कि सांख्य जगत्कर्ता किसी ईश्वर को नहीं मानता, जबकि वैदिक साहित्य में प्राचीनकाल से उपनिषद्–काल तक जगत् की रचना के लिए देवता लोग या परमेश्वर हेतु माने गये है। इस भेद के होते हुए भी यह सम्भव है कि उपनिषदों में जो निर्विशेष गुणातीत ब्रह्म की कल्पना है उसमें सांख्यमत के निर्गुण पुरुष का प्रभाव हो। वेदान्तशास्त्र में जो जगत् के हेतु परमेश्वर परब्रह्म का जगत् से ऐक्य माना गया है।[12] उसमें सांख्य का योगानुभूति पर आधारित कार्य और कारण की एकता के मत का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है।[13]

वेद आधारित दर्शनों में सांख्य अतिप्राचीन दर्शन है। जिसमें स्वतन्त्र रुप से 'द्वैत' का प्रतिपादन किया गया है। इसमें दो स्वतन्त्र सत्ता वाले तत्त्वों की बात कहीं गई है। आस्तिक दर्शनों में सांख्य के अतिरिक्त न्याय–वैशेषिक तथा माध्व–दर्शन भी भेद प्रतिपादक है परन्तु ये दो स्वतन्त्र तत्त्वों के स्थान पर कई चरम सतों की मान्यता को

स्वीकार करते हैं। परन्तु आचार्य शंकर के समय से अद्वैत विचारों का प्रचार त्रीवता से प्रारम्भ हुआ। अद्वैत ने फिर भी पूर्णतः जनमानस को अपने पक्ष में नहीं कर पाया है और द्वैत की धारणा आज भी साधारणतया मान्य है। अब प्रश्न यहाँ पर यह उपस्थित होता है कि इन दोनों सम्प्रदायों की उपादेयता क्या है इतने प्राचीन होते हुए भी वर्तमान समय में इनका विचार–विमर्श किस सीमा तक प्रासंगिक है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि मनुष्य सब कुछ प्राप्त करने के बाद भी दुःखी क्यों होता है सब कुछ पाकर भी मनुष्य का जीवन स्थायी नहीं रहता उसे दुःखों को सहन करना ही पड़ता है तो इसका कारण भी जानना आवश्यक है जिससे इनके मुक्ति का मार्ग निकाला जा सके। जीव को दुःख का प्रतिकूल रूप में अनुभव होता है, अतः उससे जीव घृणा करता है, उससे छुटकारा पाने के लिए उपाय ढूँढता है। अविद्या ने अनादि काल से आत्मा के स्वरूप को मेघ की तरह आच्छान्दित कर रखा है। इसी कारण जिज्ञासु को आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः आत्मा और परमात्मा एक है। अविद्या से आच्छन्न होने के कारण वही, आत्मा जीव नामधारी होकर अपने को आत्मा से भिन्न समझ रखा है। इस प्रकार वह अपने को खो चुका है।

नाना प्रकार के क्लेशों से पीड़ित होकर उनसे छुटकारा पाने के लिए साधन को ढूँढता हुआ साधक आचार्य के समीप जाता है। उनसे अपने दुःख से छुटकारा पाने का उपाय पूँछता है। उसके दुःख से दुःखी होकर, उस पर अनुकम्पा दिखाते हुए आचार्य उपदेश देते है– ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः''। अरे! आत्मा को देखो, उसी से दुःख की निवृत्ति होगी। आत्मा को देखने से वस्तुतः जीव अपने ही स्वरूप को देखेगा। अनादिकाल से खोये हुए अपने स्वरूप को देखकर, उसे कितना आनन्द होगा।

निष्कर्ष

इसी की खोज में सब चल पड़े है, कोई आगे है और कोई पीछे, मार्ग में जा रहा है। सांख्य के स्तर पर पहुँच कर पुरुष और प्रकृति ये दो नित्य परस्पर विरूद्ध एक चेतन तथा दूसरा जड़ साधक के साथ रह जाते है, ये द्वैतावस्था है। मुक्ति में भी पुरुष को प्रकृति की शुद्ध 'सत्वगुण' से सर्वथा छुटकारा नहीं मिलता। जड़ वस्तु का आरोप अपने ऊपर रहने पर भी, उसे पुरुष नहीं समझता। यह भी अविद्या है। जब तक इसका निर्मूल उच्छेद नहीं हो जाता, तब तक आत्म–साक्षात्कार कैसे हो सकता है। जब तक रजस् का प्रभाव रहेगा, तब तक दुःख की

निवृत्ति नहीं हो सकती। सत् वस्तु का नाश नहीं हो सकता। ये तो सांख्य का सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में साधक को सन्तोष नहीं होता, मन की ग्लानी दूर नहीं होती, जिज्ञासा बनी रहती है। इसलिए सांख्यदर्शन की मुक्तावस्था के स्वरूप को लेकर जीव अपने मार्ग का पुनः अनुसरण करता है। उसके साथ अब वही शुद्ध सत्व से युक्त पुरुष है। उसके रहस्य को जानने के लिए वह आगे बढ़ता है। यही शांकरवेदान्त की तथा अद्वैतवेदान्त की भूमि है।[14]

सन्दर्भः

1. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन भाग दो, पृ0 460
2. उदयवीर शास्त्री, सांख्यसिद्धान्त, पृ0 2
3. दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ0 442
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/9/1
5. ऋग्वेद, 1/64/46
6. मुण्डकोपनिषद्, 2/2/1।
7. ऋग्वेद, 10/129/1,2
8. बृ0 उ0, 5/5/1।
9. मु0 उ0, 2/1/2।
10. दार्शनिका त्रैमासिक, अंक 3 जुलाई–सितम्बर 2013, पृ0 27–41।
11. ईक्षतेर्नाशब्दम्। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1/1/5।
12. तदनन्यत्वामारम्भणशब्दादिभ्यः। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/14।
13. संगमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन के जीवन्त प्रश्न, पृ0 147.149
14. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ0 344

Copyright © 2025 Siri Research Foundation. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution International License (CC BY 4.0).